श्री.



लावण्यमयी

उपन्यास

श्रीमन्निम्बार्कसम्प्रदायाचार्य

श्रीकिशोरीलालगोस्वामि-द्वारा

भाषा के आश्रय से विशुद्ध आर्य्यभाव

में लिखित ।

“ जन्मनोऽस्य शालीनवर्णान्वरं,
न स्पृशन्ति च गिरः कवेरपि ।
स्वप्नवृत्तिरपि यत्र दुर्लभा,
लोचनैश्च विन्दन्ति माधुर्यं ॥ ”

(श्रीहर्षः)

श्रीछबीलेलालगोस्वामि-द्वारा

श्रीसुदर्शनप्रेस, वृन्दावन में

छपकर प्रकाशित ।

श्रीः

लावण्यमयी

उपन्यास

श्रीमन्निम्बार्कसम्प्रदायाचार्य

श्रीकिशोरीलालगोस्वामि-द्वारा

भाषा के आश्रय से विशुद्ध आर्य्यभाव
में लिखित ।

"अमनोरथशतैरगोचरं,
न स्पृशन्ति च गिरः कवेरपि ।
स्वप्नवृत्तिरपि यत्र दुर्लभा,
लीलयैव विदधाति तद्विधिः ॥"
(श्रीहर्षः)

छबीलेलालगोस्वामि-द्वारा

श्रीसुदर्शनप्रेस, वृन्दावन में

छपकर प्रकाशित ।

ोबार) संवत् १९७२ (मूल्य
०० सन १९१६ ई० तीन आं

प्रथम संस्करण की भूमिका।

उपन्यास साहित्य-जगत् का प्राण है। सब समय, नाटक, सकल विषयों को विशदरूप से प्रकाशित नहीं कर सकते; अतएव आदिकाल से कवियों ने हृदयगत उद्गारों और सांसारिक समस्त भावों को प्रत्यक्ष दिखलाने के लिये काव्य के मुख्यतम अङ्ग "उपन्यास" की सृष्टि की है।

कौतुकपूर्ण, ज्ञानपूर्ण, आमोदपूर्ण, सामाजिक-चित्रपूर्ण, लौकिकव्यवहारपूर्ण, साहित्यमयभावों से पूर्ण, तथा अनेकानेक विविध-विषय-पूर्ण उपन्यास ही है।

प्रेम का रत्नाकर, स्नेह का विकसित प्रसून, प्रीति की विकसित लता, प्रणय की ज्वलंत छवि, चाह का अपूर्व खेल, युवक-युवती के जीवन के श्रेष्ठांश यौवन की लीला, अनिर्वचनीय आनन्द का यथार्थ चित्र, प्रेमसागर में यौवनवायुविताड़ित तरङ्ग, मन्द मन्द हिल्लोरित-तरङ्गाघातसङ्कुल मनोमय मनोहर मधुर प्रकृति-लीला और प्राकृतिक लावण्यलहरी "उपन्यास" ही है।

संसार में प्रेम के अभाव दूर करने के लिये, युवक-युवतियों में प्रेमोत्पादक आशा के अर्थ, स्वामी और सहधर्मिणी में परस्पर आयत्ताधीन प्रेम उत्पन्न करने के लिये "उपन्यास" प्रधान शिक्षक है।

आरा) रसिकानुगामी,
२५-८-९१ श्रीकिशोरीलालगोस्वामी

द्वितीय संस्करण की भूमिका ।

यह उपन्यास सन् १८८८ ई० में लिखा गया और सन् १८८९ ई० में भारतजीवन में छपा था । आज ईश्वरानुग्रह से इतने दिनों के बाद यह दूसरी बार छापा जाता है । उपन्यासप्रेमियों ने इसे बहुत पसन्द किया है, इसलिये हम उनके कृतज्ञ हैं ।

वृन्दावन } रसिकानुगामी,
१२-७-१६ } श्रीकिशोरीलालगोस्वामी

श्री:

समर्पण ।

श्रीमती आदरणीया सुशीला श्रीश्रीरानीसाहिबा
श्रीशिवराजकुमारी देवीजी !

आपने अनुग्रह करके सुशीला लावण्यमयी को अपनाया है, अतएव हम आज इसे आपके हाथों में सौंपकर निश्चिन्त होते हैं ।

शुभाकांक्षी, ग्रन्थकार ।

श्री

लावण्यमयी

उपन्यास.

प्रथम परिच्छेद.

बालिका ।

"अघटितघटितं घटयति,
सुघटितघटितानि दुर्घटी कुरुते ।
विधिरेव तानि घटयति,
यानि पुमान्नैव चिन्तयति ॥"

(श्रीहर्षः)

हरिपुर एक छोटासा ग्राम था। वहां रमेशबाबू सबसे प्रधान धनिक थे। उनका घर बहुत उत्तम और दासदासीगण यथेष्ट थे। बाहर बड़े बड़े दस गुदाम और गोशाला में सैकड़ों गौ, बैल और भैंसें थीं। बाबूसाहब को सब कुछ था, पर एक पुत्र के अभाव से घर सूना था। उन्होंने सस्त्रीक कितने दान, तीर्थ, जप, कथाश्रवण आदि किए, स्त्री को अनेक औषधियां भी खिलाई, पर किसी उपाय से सन्तति नहीं हुई।

एक दिन, रात को दोनों स्त्रीपुरुष सोते थे, बर्सात का दिन था और अंधेरी रात में भयानक गर्जन और विद्युत्प्रकाश के संग जलवृष्टि होती थी। हवा प्रचण्डवेग से प्रलय के लिए उपस्थित थी और घर के सब किवाड़ बन्द रहने पर भी बड़ी सर्दी थी

बाबूसाहब सिर पैर से दुपट्टा तानकर सोते सोते स्वप्न देखते थे।

स्वप्न यह था कि,—'इतने दिनों के बाद मानो उन्हें एक बालक हुआ है! उसका रूप अतीव सुन्दर था, नवनीतसदृश कोमल अंग थे और उसके ओठों में मनोहर हँसी क्रीड़ा करती थी! वे मानो पुत्र को गोद में लेकर लाड़-प्यार करते और हृदय में स्वर्ग का सुख अनुभव करते थे! सहसा वह शिशु रोने लगा! वे मानो कितना आदर और कितनी सान्त्वना करने लगे, पर बालक किसी प्रकार चुप नहीं हुआ!'

तब ज्यों ही वे व्याकुल होकर उठे कि उनकी निद्रा भङ्ग होगई! तब भी उनके कानों में बालक की रोदनध्वनि सुनाई देती थी! वे उठकर दोनों हाथों से आँखें मीजने लगे, पर फिर भी बराबर क्रन्दनध्वनि सुनाई देती ही रही।

तब उन्होंने घबड़ा कर अपनी स्त्री को पुकारा,—"प्रिये! प्रिये! तुम जल्दी उठो।"

रमेशबाबू की स्त्री का नाम सरला था। उसने उत्तर नहीं दिया। घर का दीपक प्रायः बुझने के समीप था, थोड़ा थोड़ा उँजाला भर था, इससे एक प्रकार घर अंधेरा ही था। बालक के रोने से आश्चर्यित होकर बाबूसाहब बराबर स्त्री को पुकारने लगे, पर कुछ भी उत्तर न मिला। उन्होंने अंधकार में चारों ओर शय्या पर हाथ पसार कर देखा, पर स्त्री का वहां चिन्ह भी नहीं था! इधर बालक के रोने की ध्वनि आती थी, उधर स्त्री शय्या पर नहीं थी, अतएव घबड़ाकर बाबूसाहब शय्या पर से उठे। उन्होंने उठकर शीघ्र दीपक उकसा दिया और घर में उँजाला फैल गया।

उन्होंने उँजेले में देखा कि, 'स्त्री की शय्या पर एक महीने की कन्या पड़ी पड़ी अप्सरा-विनिन्दित रूप से घर को आलोकमय कर रही है!' उन्होंने यह देखते ही हठात् कन्या को गोदी में उठा लिया। अहा! जिस शिशु का दर्शन स्वप्न में करके बाबूसाहब स्वर्गसुख भोगते थे, वह यही बालिका है।

उनकी गोदी में जाते ही कन्या चुप होगई, तब उन्होंने फिर कई बार पुकारा,—"प्रिये! प्रिये!! कहां गई!!!"

पर सरला घर में नहीं थी। उन्होंने पूर्ववत् ज़ोर ज़ोर से पुकारा पर कहीं कुछ नहीं! तब उन्होंने [illegible] में घर के द्वा

खोलकर दासी को पुकारा। विशेष हल्ला-गुल्ला होने से घर के सब लोग जाग गए और बाबूसाहब के शयनघर में आए; पर उनके साथ सरला नहीं थी।

सभी लोग बालक को देखकर आश्चर्यित हुए। बाबू साहब ने अपने आदमियों से पूछा,—"मैं बालक के रोने की ध्वनि सुनकर जागा और मैंने देखा कि यही बालिका है! इसे यहां कौन लाया?"

इस प्रश्न का उत्तर कोई न दे सका और सभोंने घर-बाहर, चारोंओर अनुसंधान किया, बाबूसाहब ने भी यथासम्भव खोज की, पर कहीं भी सरला का पता न लगा, और न यही मालूम हुआ कि उस बालिका को कौन यहां डाल गया! बाबूसाहब बहुत कातर हुए और वे नानाप्रकार की चिन्ता करने लगे।

उन्होंने मनही मन यों सोचा कि,—'क्या सरला ने आत्महत्या की? क्यों? उसका मृतदेह क्या हुआ? वह कहां गई? वह तो परम सती है! यह कन्या ही कहांसे आई?' इत्यादि; पर कुछ भी पता नहीं लगा। महीनों तक खोज हुई, पर सरला नहीं मिली। इस झंझट में कन्या की सुधि बाबूसाहब एक दम भूल गए थे।

'कन्या की सुधि' तो बाबूसाहब अवश्य एक दम से भूल गए थे, परन्तु अपनी सती साध्वी पतिव्रता पत्नी सरला को वे एक क्षण के लिये भी नहीं भूले थे। सोते-जागते, उठते-बैठते, नहाते धोते, खाते-पीते, चलते-फिरते और हर काम को करते हुए एक क्षण के लिये भी वे सरला को नहीं भूले थे। सरला के लिये हजारों तरह के सोच-विचार करते करते अन्त में उन्होंने मनहीं मन यही निश्चय किया कि,—'सम्भवतः वह बेचारी किसी चक्र में फंस गई है! हो न हो, जिस व्यक्ति ने इस नन्हीं सी लड़की को मेरे मत्थे मढ़ा है, वही दुष्ट सरला को भी बलपूर्वक पकड़ ले गया है! क्योंकि यों राजी खुशी से तो वह पतिपरायणा स्त्री किसी अन्य व्यक्ति के साथ कदापि नहीं जा सकती! अस्तु, देखूं, आगे चलकर क्या होता है!!!'

द्वितीय परिच्छेद.

लावण्यमयी।

" दिने दिने सा परिवर्द्धमाना,
लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा।
पुपोष लावण्यमयान् विशेषान्,
ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि ॥"

(कुमारसम्भवम्.)

इस घटना के अनन्तर एक महीना बीत गया। एक दिन घर के सामने, उद्यान में बैठे हुए बाबूसाहब महाचिन्ता में निमग्न थे। सहसा सिर उठा कर उन्होंने देखा कि, 'एक दासी कन्या को गोद में लिये खिला रही है!' उसे देख कर बाबू साहब को चैतन्य हुआ! वे उसे एक प्रकार से भूल ही गए थे, सो आज याद आई! उन्होंने दासी को पुकारा। वह जब निकट आई तो एकटक उस सौन्दर्य-मयी कन्या को वे देखने लगे। अनन्तर उन्होंने उसे अपनी गोद में ले और गले लगा कर चुम्बन किया। 'इस कन्या के मुख में सरला का कोई सादृश्य है?' इसे ध्यानपूर्वक देखने पर बाबूसाहब ने कुछ भी सादृश्य नहीं देखा।

उन्होंने मन ही मन यों कहा,—" यह शिशु कहां से आया, इसका आज तक अनुसन्धान न करके मैंने अच्छा काम नहीं किया; यह अन्याय हुआ। हो तो, इसके माता पिता का अनुसन्धान करने से कदाचित् किसी सूत्र से सरला का भी पता लग जाय तो आश्चर्य नहीं। "

यह बिचार कर बाबूसाहब ने फिर अनुसन्धान करना आरम्भ किया। सम्वादपत्रों में, अपने शय्यागृह में शिशु के आने का समस्त वृत्तान्त लिख कर विज्ञापन प्रचार किया, गांव गांव में ढिण्ढोरा पिटवाया, जगह जगह आदमी भेजे पर कहीं से कुछ भी खबर नहीं आई न शिशु का कोई वारिस ही खड़ा हुआ तब तो बाबू

साहब इस रहस्य-भेद की आशा एकाएक त्याग कर निराश हो बैठे।

हम यह कह आए हैं कि शिशु एक लावण्यमयी कन्या थी। कोई भी कन्या का वारिस नहीं खड़ा हुआ, इससे बाबू साहब उसका "लावण्यमयी" नाम रख कर अपनी कन्या की तरह लालन पालन करने लगे। बड़े समारोह से उसका नामकरण तथा अन्न-प्राशन किया। ज्यों ज्यों दिन बीतने लगा त्यों त्यों बाबूसाहब का अपत्य-स्नेह उस कन्या पर बढ़ने लगा। और और लोग भी धीरे धीरे यह बात भूल गए कि, 'यह बाबू साहब की कन्या नहीं है।'

और लावण्य! भला वह बेचारी क्या जाने! जब वह यहां आई थी, तब महीने भर की थी। अब वह भी रमेशबाबू को ही अपना जनक जानती और धाय को मा समझती थी। इसके अतिरिक्त वह बेचारी और क्या जाने?

आठ नौ वर्ष बीत गए; लावण्यमयी दिन दूनी और रात चौगुनी शशिकला की तरह बढ़ने लगी। वह जितनी स्यानी होती थी, उसके नामानुसार उसका लावण्य भी उतना ही सहस्रगुण चारों ओर अपनी छटा छहरा कर बाबूसाहब का घर आलोकमय करने लगा था।

इतने दिन बीत गए, आठ नौ वर्ष का लंबाचौड़ा समय बीत गया, लावण्यमयी आठ नौ वर्ष की होगई, तौभी इतने दिन बीतजाने पर भी हमारे बाबूसाहब अपनी प्रेयसी सरला को एक मुहूर्त्त के लिये भी नहीं भूले थे। यद्यपि वे सांसारिक सभी काम करते थे, अपने घर के प्रत्येक काम को बड़ी मुस्तैदी के साथ करते थे और हरदम अपने चित्त को तरह तरह के कामों में लगाए रहते थे; तथापि वे अपनी सरला को एक क्षण के लिये भी नहीं भूले थे। उन्होंने उसके अनुसंधान करने में कोई बात उठा नहीं रक्खी थी, परन्तु उनका सारा परिश्रम व्यर्थ गया और उसका कुछ भी पता न लगा। लाचार हो, वे अपना करम ठोंक और नारायण पर भरोसा रखकर चुप हो बैठे।

तृतीय परिच्छेद.

युगलमूर्त्ति ।

" सेयं ममाङ्गेषु सुधाकरच्छटा,
सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः ।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी,
प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता ॥ "

(कलाधरः)

एक दिन दोपहर के समय अकेली लावण्यमयी घर के पिछवाड़े उद्यान में वृक्षों के नीचे खेल रही थी। कभी वह फूल तोड़ती और कभी तितली पकड़ने के लिये उसके पीछे पीछे दौड़ती थी। दूर से यह दृश्य दो व्यक्ति देख रहे थे। उन दोनों में एक संन्यासिनी थी और दूसरा पन्द्रह सोलह वर्ष का बालक था।

संन्यासिनी ने बालक को लावण्यमयी की ओर दिखाकर कहा,-- " जाओ, सुधाकर! उस लड़की के संग खेलो। "

परन्तु सुधाकर सकुचित और लज्जित होता था, क्योंकि अपरिचित बालिका के संग बिना बुलाए जाकर खेलना उसे अनुचित मालूम होता था; परन्तु संन्यासिनी उसे बार बार जाने के लिये ठेलती थी। बालिका भी खेलती खेलती उधर को जाती थी कि गुलाब की डालियों के कांटे में उसका अञ्चल अरुझ गया। वह फिर अञ्चल छुड़ाने जाती थी कि और भी कपड़ा उसमें अँरुझाय बैठी। तब तो वह भय विकल होकर रोना ही चाहती थी कि सहसा उसके नयन सुधाकर पर पड़े! सुधाकर लावण्यमयी की विपत्ति देख कर उसके पास चला आया और संन्यासिनी भी पेड़ों की ओट से दोनों का कुतूहल देखने लगी।

सुधाकर ने बालिका के पास आ कर उसका हाथ थाम लिया और हँसते हँसते कहा " एँ! यह क्या हुआ? "

लावण्यमयी ' मेरा अञ्चल कांटों में अरुझ गया है जरा

सुधाकर,—"डर क्या है ? तुम हिलो-डोलो मत, मैं अभी छुड़ाए देता हूं। हिलने से और भी उलझ जायगा।"

लावण्यमयी,—"नहीं, मैं न हिलूंगी।"

सुधाकर बहुत कष्ट से एक एक करके कांटों से कपड़ा छुड़ाने लगा।

लावण्यमयी ने कहा,—"देखो! भई! मेरा कपड़ा कहीं फटे नहीं; नहीं तो धाय मां मारेगी।"

सुधाकर,—"धाय मां कौन ?"

लावण्यमयी,—"क्या तुम नहीं जानते ? जिसने मुझे इतनी बड़ी किया है ?"

सुधाकर,—"ऐं! तुम्हारी मा नहीं है ?"

लावण्यमयी,—"वही तो मेरी मा है। तुम्हें क्या धाई मां नहीं है ?"

सुधाकर भला इस बात का क्या उत्तर देता ? सो कुछ न सोच सका और बोला,—"हां, नहीं है।"

लावण्यमयी,—"आह! यह देखो! मेरा कपड़ा यहां फट गया! तुम किसी काम के नहीं हो।"

द्वादशवर्षीया बालिका से लज्जित होकर सुधाकर ने उससे पूछा,—"तुम्हें क्या तुम्हारी धाय मां मारती है ?"

लावण्यमयी,—"नहीं, बहुत नहीं; धूम करने से थोड़ा मारती है, किन्तु वह मुझे प्राण से भी अधिक चाहती है।"

इस समय सुधाकर का काम पूरा हुआ, अर्थात् गुलाब की डाल से कपड़े के छूटने पर लावण्यमयी ने कहा,—"तुम मेरे घर चलो न!"

सुधाकर,—"तुम्हारे घर जाने से लोग गुस्सा होंगे, मैं अब अपने घर जाऊं ?"

लावण्यमयी,—"क्यों जी, तुम्हारा घर किधर है ?"

सुधाकर,—"उसी ओर, फूलबागान में।"

लावण्यमयी,—"तुम्हारा घर भी खूब अच्छा है ?"

सुधाकर,—"नहीं, मैं तो गरीब हूं।"

लावण्यमयी,—"तो तुम क्यों नहीं मेरे घर चल कर रहते ?"

सुधाकर — मुझे तुम्हारे घरवाले रहने देंगे ?"

लावण्यमयी,—"क्यों न देंगे ? मैं बाबा से कहूंगी, आओ।"

यह कहकर लावण्यमयी ने सुधाकर का हाथ थाम लिया।

सुधाकर ने उसे भुलावा देने के मिस से कहा,—"आओ, तुम्हे फूल तोड़ दूं।"

लावण्यमयी इससे बहुत आह्लादित हुई, और बोली,—"फूल का काम नहीं है, मुझे एक तितली पकड़ दो।"

उस समय फूलों पर तितलियां उड़ रही थीं, जो देखने में रंग-बिरंगी और बड़ी सुहावनी थीं। फूल सुन्दर है, पर फूल में तो जीवनीशक्ति नहीं है, इसीसे बालिका फूल छोड़ कर तितली के लिये अनुरोध करने लगी।

सुधाकर तितली के पकड़ने की चेष्टा करने लगा, किन्तु संसार में क्या आशा करने से कभी इष्ट वस्तु जल्दी मिलती है! अतएव सुधाकर जितना दौड़ता था, तितली भी उतना ही भागती थी, तथा बालिका भी पीछे पीछे दौड़ती थी। सुधाकर एक भी तितली न पकड़ सका, इससे बालिका उच्च हास्य करने लगी। उसकी हंसी से सुधाकर लज्जित होकर बड़े उत्साह के संग फिर तितली के पकड़ने की चेष्टा करने लगा और एक घण्टा इसी दौड़ धूप में बीता, तथापि कोई भी तितली उसके हाथ न आई।

इतने में लावण्यमयी पीछे से आनन्द से हंसकर कहने लगी,—"देखो! तुम नहीं पकड़ सके, पर मैंने पकड़ लिया।"

सुधाकर ने बालिका के हास-परिहास से लज्जित होकर पीछे फिर कर देखा कि, 'सचमुच लावण्यमयी की कोमल उंगलियों में एक तितली दबी है!'

सुधाकर ने आश्चर्य से पूछा,—"अरे! तुमने इसे कैसे धरा?"

लावण्यमयी,—"क्यों? मेरे देह पर आकर यह बैठी थी। हा! हा! हा! मेरा विवाह होगा।"

सुधाकर,—'यह कैसे? क्या तितली के देह पर बैठने से ब्याह

लावण्यमयी,—"क्या तुम नहीं जानते ? सभी तो पुकारते हैं !"

सुधाकर,—"मैंने तो किसीके मुंह से तुम्हारा नाम नहीं सुना !"

लावण्यमयी,—"क्यों ?"

सुधाकर,—"कल ही, मैं यहां आया हूं।"

लावण्यमयी,—"मेरा नाम "लावण्यमयी" है, तुम्हारा नाम क्या है ?"

सुधाकर,—"सुधाकर।"

लावण्यमयी,—"अहा ! क्या कहा ? सुधाकर ! बड़ा अच्छा नाम है !"

सुधाकर,—"तुम मुझ से फिर मिलोगी ?"

लावण्यमयी,—"हां ! यही मैं भी कहना चाहती थी। तुम रोज इसी समय यहां आया करो। मैं तुम्हे फूल की माला पहिराऊंगी।"

सुधाकर,—"अच्छा, जरूर मिलूंगा लावण्यमयी ! ऐसी जल्दी क्या है ? अभी तो सांझ होने में देर है।"

लावण्यमयी,—"हां, सांझ होने में देर तो है, पर मैं घंटों से अकेली बगीचे में खेल रही हूं; इसलिये अबेर होने से धाय मां लड़ने लगेगी।"

सुधाकर,—"तुम्हारी धाय मां कैसी है !"

लावण्यमयी,—"बहुत अच्छी है, पर कभी कभी लड़ती और थोड़ा बहुत मारती भी है; लेकिन प्यार खूब करती है।"

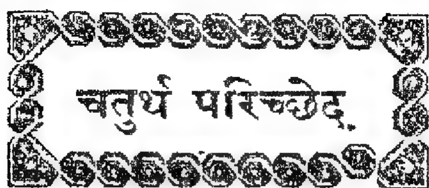
सुधाकर,—"जो कहो, तुम्हारी धाय मां मुझे तुम्हारे साथ खेलते यहां देख लेगी तो मुझसे या तुमसे लड़ेगी तो नहीं।"

लावण्यमयी,—"लड़ेगी क्यों ! वह तो तुम्हें देख कर बड़ी मगन होगी, इसलिये कि वह मुझे बहुत चाहती है; सो तुम्हें मेरे साथ खेलते देख कर वह बहुत खुश होगी।"

सुधाकर,—"अच्छा तो कल फिर मिलना।"

लावण्यमयी,—"जरूर मिलूंगी। अच्छा, अब हाथ छोड़ो; मैं धाई मां से कह आऊं।"

यह कहकर स्वभावसरला बाला हँसती हँसती भाग गई। तदनन्तर सुधाकर भी धीरे धीरे चला गया। बीच में प्रसन्नवदना संन्यासिनी ने सुधाकर को गले लगाकर अपना मार्ग लिया।



चतुर्थ परिच्छेद

निर्वेद।

"तां हेमचम्पकरुचिं मृगशावकाक्षीं,
पार्श्वे स्थितां च पुरतः परिवर्त्तमानाम्।
पश्चात्तथा दशदिशासु परिस्फुरन्तीं,
पश्यामि तन्मयमहो भुवनं किमेतत्॥"

(सुन्दरकविः)

रमेशबाबू ने पुनर्विवाह नहीं किया था। लोगों ने बहुत समझाया, पर उन्होंने किसीका अनुरोध नहीं माना। आज सरला को गुम्म हुए कोई बारह वर्ष हुए! इतने दिनोंतक वे बराबर सरला का ध्यान किया करते थे और क्षण भर के लिये भी उस को नहीं भूले थे। जिस दिन उद्यान में सुधाकर और लावण्यमयी खेलते थे, उस दिन न जाने क्यों उनका मन बहुत अस्थिर हुआ था। किन्तु क्यों ऐसा चञ्चल मन हुआ, इसे वे स्वयं भी नहीं निर्णय कर सके थे। इतने दिन तक तो सरला का ध्यान था ही, फिर आज वह नूतन ढंग से उदय हुआ और मन बहुत विकल होगया; मानो सरला की सुन्दर मुखच्छबि बाबूसाहब की आँखों के आगे घूमने लगी! चित्त चञ्चल होने से वे घर से बाहर चले गए, और इधर उधर भ्रमण आदि में संध्या तक मन बहलाकर घर फिरे; फिर भोजन करके सो रहे।

ठीक बारह वर्ष पहिले जिस प्रकार स्वप्न में शिशु की क्रन्दन-ध्वनि सुनकर बाबूसाहब चिहुंक कर जाग उठे थे, आज भी उसी प्रकार वे चमक उठे और आत्मविस्मृत होकर "प्रिये! प्रिये!" कह कर पुकारने लगे।

इतने में, मानो किसीने मधुर, परन्तु अस्फुट स्वर से उत्तर भी दिया,—"क्यों? क्या है नाथ!"

उत्तर सुनते ही बाबूसाहब पलंग पर से उछल उठे! ठीक

बुझ गया था, पर खिड़की खुली थी, इससे चाँदनी रात के कारण घर बिल्कुल अँधेरा भी नहीं था। सो उतने ही उंजाले में बाबूसाहब ने स्पष्ट देखा कि, 'एक रमणी धीरे धीरे द्वार की ओर जारही है!' वह भाव, वह काल और वह गठन भी बाबूसाहब आजन्म न भूलेंगे! सो वे भी उस मूर्ति के पीछे झपटे, पर इतने ही में वह मूर्ति अन्तर्धान होगई! वे क्षण भर में घर से बाहर आए, पर मूर्ति कहां? क्या वह हवा में मिल गई!

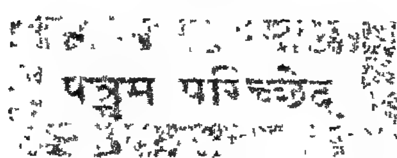
बाबूसाहब ने घबड़ाकर नौकरों को जोर से पुकारा। उनके चिल्लाने से घर में बड़ा हल्ला मच गया और स्त्री जन भयानक चीत्कार करने लगीं। अस्तु, दीप बाला गया और सभों ने इस उपद्रव का कारण बाबूसाहब से पूछना आरम्भ किया, पर बाबूसाहब कुछ भी नहीं कह सके। क्यों कि न जाने उन्होंने कैसा असाधारण स्वप्न देखा और अद्वितीय स्वर सुना था, कि जिसके विचारसागर में वे मग्न थे।

उन्होंने अपने मन का भाव गोपन करके नौकरों से कहा,—"घर में शायद चोर आया था, चारोंओर देखो।"

चोर का नाम सुनते ही स्वभावतः सभी भयभीत हुए, पांच चार आदमी दल बांधकर और लालटेन लेकर भीतर बाहर अच्छी तरह देखने लगे, पर कहीं भी चोर का पता न लगा। रात इसी झंझट में कटी, कोई भी निद्रादेवी की सेवा न कर सका।

बाबूसाहब को भी नींद न आई। उनकी अद्भुत दशा थी, आंख बन्द करने पर वही मूर्ति नेत्रों के आगे दिखाई देती थी और खोलने पर कहीं कुछ नहीं!!!





दो सहेली।

" त्वत्तापवाद्दजनित नयमाशु सर्वं,
खेदं विहाय निरतास्तव स्वकार्यम्।
कार्यान्तरं कापि न हि मम भावनाऽस्ति,
सच्छ्रान्त्य परिगृह्य सुखितो भव त्वम्॥"

(कमलाकरः)

एक दिन एक कुटीर में दो तापसियां परस्पर बातें करती थीं; उनमें एक ऊनाकी पूर्वपरिचिता सन्यासिनी थी और दूसरी वैष्णवी।

वैष्णवी ने कहा,—" इसके उपरान्त ? "

सन्यासिनी,—" इसके उपरान्त क्या? मेरे घर में जाने के अनन्तर वे जाग उठे, तब मैं वहां ठहरना उचित न जान कर चली; क्योंकि वे दौड़कर मुझे पकड़ना चाहते थे। उस समय मैं अँधेरे में लुक गई। उन्होंने कोलाहल करके नौकरों को पुकारा और घर में बड़ा हुल्लड़ मचा; उसी अवसर में मैं वहां से भागी। "

वैष्णवी,—" तुम्हारा भाग आना अच्छा नहीं हुआ। तुम्हें उनसे भेंट करनी उचित थी। "

सन्यासिनी,—" न जाने क्यों, उस समय मेरा कलेजा कांपने लगा, इसलिये मैं उनके सन्मुख न जा सकी। "

वैष्णवी,—" इस तरह कब तक चुपचाप बैठी रहोगी ?"

सन्यासिनी,—" जब तक विधाता ने भाग में लिखा होगा।"

वैष्णवी,—" पर सामना तो अवश्य करना ही होगा। "

सन्यासिनी,—" नहीं तो कहां जाऊँगी ? "

वैष्णवी,—" लावण्यमयी ने तुम्हें चीन्हा ? "

सन्यासिनी,—" वह बेचारी कैसे चीन्हेगी ? "

वैष्णवी,—" सुधाकर और लावण्यमयी में बड़ा प्रेम बढ़ा है; वे दोनों जब उद्यान में क्रीड़ा करते दिखाई देते हैं तब यही निश्चय होता है कि 'विधाता ने यह जोड़ी ठीक बनाई है' "

सन्यासिनी,—"यह ईश्वर की इच्छा है।"

वैष्णवी,—"तुमने उनसे कुछ कहा नहीं? तुमने जब सुधाकर को मुझे दिया था, उसके अनन्तर भी नाशें वर्ष तक तुम घर में रहीं।"

सन्यासिनी,—"तुम जब सुधाकर को ले आई थीं, तब मुझे ज्ञान नहीं था। पीछे मैंने सुना कि सुधाकर मर गया है, और दाई उसका मृतदेह ले गई है; फिर मन में कुछ आशा हुई; क्योंकि तुमने कहा था कि, 'मैं बालक को ले आऊंगी;' पर उस समय सभी कहने लगीं कि, 'तुम्हें मरा बालक हुआ है!' उस दिन से तुम्हारा भी दर्शन नहीं होता था, अतः मेरी आशा निराशा से बदल गई, इसीसे तुम्हारे-हमारे बीच जो जो बातें हुई थीं, वे उनसे नहीं कहीं।"

वैष्णवी,—"तुमने अपने अङ्गीकार की बातें तो नहीं भुलाईं?"

सन्यासिनी,—"यह क्या भूलने की बात है? तुमने मुझे मेरे हृदय-रत्न को फेर दिया है, इसलिये तुम्हारे आगे जो अंगीकार मैंने किया है, उसे मैं कभी नहीं भूल सकती, पर तुम्हारा प्रकृत वृत्तान्त जानने की मेरी बड़ी इच्छा है।"

वैष्णवी,—"समय आवैगा तो कहूंगी।"

सन्यासिनी,—"अभी क्यों नहीं कहतीं?"

वैष्णवी,—"अभी न कहूंगी।"

सन्यासिनी,—"अच्छा! मैं विशेष आग्रह नहीं करती।"

वैष्णवी,—"तुम अपने पति के सङ्ग अब मिलो।"

सन्यासिनी,—"अब मैं भी मिलना चाहती हूं, पर न जाने क्यों, भय से छाती कांपती है, क्योंकि न जानें कितनी———"

वैष्णवी,—"उहूं! क्यों? क्या तुम्हे वे निन्दित समझेंगे? जब वे सब बातें जान लेंगे, तब तुम्हारी निन्दा न करेंगे।"

सन्यासिनी,—"तो आज ही मैं मिलूंगी, चाहे कुछ भी हो।"

वैष्णवी ने हंस कर कहा,—"देखो! आज भी डर कर मत भागना।"

सन्यासिनी,—"नहीं नहीं रोज ही, क्या ऐसा करूंगी।"

अनन्तर वैष्णवी अपने कामों के लिये जङ्गल में प्रविष्ट हुई, और सन्यासिनी कुटीर में बैठी बैठी कुछ चिन्ता करने लगी

षष्ठ परिच्छेद.

सती और पति ।

"कार्येषु मंत्री करणेषु दासी,
भोज्येषु माता शयनेषु रम्भा ।
धर्मानुकूला क्षमया धरित्री,
भार्या च षाड्गुण्यवतीह दुर्लभा ॥"

(चाणक्यः)

वैष्णवी कुटीर से निकल, ग्राम छोड़ कर प्रान्तर को लांघ, एक अत्यन्त सघन, श्वापदपूर्ण अथच भयङ्कर-जन्तुविहीन जङ्गल में प्रविष्ट हुई। दो पहर ढल गया था, सूर्य्यदेव आकाशमार्ग से प्रखर कर बरसा रहे थे, भयानक ताप से विकल होकर पक्षीगण वृक्ष कोटर और सघन-पत्तों में जा लुके थे, और पशुकुल क्लान्त होकर विशाल वृक्षों की शीतल छाया में लेटे लेटे रोमन्थन करते थे। वन में कहीं भी मनुष्य का चिन्ह नहीं था, केवल वही वैष्णवी—प्रौढ़ा तुंगशद्रुषीया रूपवती वैष्णवी, सूर्य्यतेज की उपेक्षा करके द्रुतगति से प्रान्तर लांघ कर वन के भीतर चली जाती थी।

· कुछ दूर वन के भीतर एक प्रकाण्ड वटवृक्ष अपनी शाखा-प्रशाखा विस्तृत करके खड़ा खड़ा वन की शोभा देखता था। उस के नीचे दो चार गौ भैंसें अर्द्धनिद्रित भाव से बैठी थीं, एक कुत्ता भी जीभ निकाल कर हाँफ रहा था, और असंख्य पक्षी शाखाओं पर बैठे मंद मंद कोलाहल करते थे। वहां वैष्णवी के पहुंचने से उस स्थान की निस्तब्धता भङ्ग हुई। गौवों ने आलस्य भरे नेत्रों से वैष्णवी को देख कर अङ्ग झाड़ा, कुत्ता अङ्गड़ाई लेकर जीभ हिलाता हुआ खड़ा होगया और पक्षीगण चञ्चल होकर क्षणभर चुप होगए; अनन्तर फिर सभों ने कोलाहल आरम्भ किया।

वैष्णवी ने इन दृश्यों की ओर भ्रूक्षेप भी न किया और एक बार वृक्षों की ओर देख कर ज़ोर से पुकारा, "गोपाल! गोपाल!"

सहसा उस विशाल वृक्ष के घन पल्लवों की ओट से निकलकर एक खर्वाकृति पुरुष नीचे उतर आया। उस पुरुष का परिधान बनारसी गुंडों की तरह था। उसके लम्बे लम्बे केश और हृदय विलम्बित श्मश्रु थीं। उसकी आंखें लाल, मुखाकृति भयानक, केश रुक्ष, देह कृश, और वस्त्र मलिन थे। उसके हाथ में मोटी और पांच हाथ लम्बी एक बांस की लाठी थी और उसे देखने से भय मालूम होता था।

एकाएक ऐसे स्थान में इस प्रकार के व्यक्ति को देखकर सभी भयभीत हो सकते हैं, पर वैष्णवी को भय का लेश मात्र भी न हुआ।

उसने सादर और प्रेम से उस व्यक्ति का हाथ थाम कर हंसते हंसते कहा,—"वाह! लोगों को बिछौने या खाट पर भी नींद नहीं आती और तुम डालियों पर सोते हो! आश्चर्य!!!

इसी व्यक्ति को वैष्णवी ने "गोपाल" कहकर पुकारा था। अस्तु उसने कहा,—"इसलिये कि मनुष्य सुखी नहीं हैं, और मैं सुखी हूं।"

वैष्णवी,—"यह बात सुनने से मुझे यथार्थ ही सन्तोष होता है। हा! न जाने तुम्हें कितना कष्ट होता होगा! मुझे दिन-रात इसी बात का सोच बना रहता है। क्या करूं, प्रभु की इच्छा!"

गोपाल,—"अब कष्ट काहे का है? जिससे सब कुछ था, जिसके भय से देश का देश कांपता था और जिसके अन्न से सैंकड़ों आदमी जीते थे, उसे अब कष्ट क्या? प्रिये, मुझे कुछ भी कष्ट नहीं है। किन्तु हां! तुम्हारे दुःख से मेरी छाती फटती है।"

वैष्णवी,—"प्रायः सोलह-सत्रह वर्ष होगए, क्या अब भी वे तुम्हें पकड़ सकेंगे? अब तुम घर क्यों नहीं चलते? मैं जो पाऊंगी, उसीसे सुखपूर्वक हम दोनों का निर्वाह होगा।"

गोपाल,—"इस राज्य में दोष की क्षमा नहीं है; और दोषी निर्दोषी, तथा निर्दोषी दोषी बनाया जाता है। मैं गोपालपुर का प्रधान ज़िमीदार हूं; दङ्गाफसाद में मैंने अपनी रक्षा के लिये कई डकुओं को गोली से मार डाला था, उस पर पारितोषिक मिलना तो दूर गया, उलटा मैं ही दोषी बनाया गया, और मेरा नाम, ध म तथा रूप रङ्ग हर जगह के थाने में लिखा गया है गुप्तचर

और पुलिस अभीतक मेरे पीछे लगा है मैं केवल ईश्वर की दया दृष्टि से ही अभीतक बचा आता हूं। प्रिये, मैं चाहे पचास वर्ष क्यों न लुकूं, पर जब प्रगट हूंगा, तभी पकड़ा जाऊंगा, और उसी दिन वह मुझे या तो फांसी देगा, अथवा यावज्जीवन द्वीपान्तर !!! अतएव मुझे अब एकान्तवास ही करना उचित है।"

वैष्णवी,—"आह ! अब तुम्हें कौन चीन्हेगा ? अब क्या तुम्हारा वह रूप-रङ्ग या डील-डौल है ? फिर तुमने तो अब अपना बिलकुल तौर ही बदल रक्खा है।"

इन बातों को वैष्णवी ने ऐसे कातर और प्रेमभाव से कहा कि गोपाल का हृदय आर्द्र होकर भर आया। उसने दीर्घनिश्वास लेकर कहा,—"प्रिये ! अब तुम सुख की आशा छोड़ दो।"

वैष्णवी—"नाथ ! उसे तो मैं अनेक दिनों से छोड़ बैठी हूं।"

गोपाल—"तो फिर क्या ? अच्छा,यह कहो कि लड़की कैसी है।"

वैष्णवी—"अच्छी है।"

गोपाल—"उसे एक बेर देखने की बड़ी इच्छा है।"

वैष्णवी—"चलो न! दोनों इससमय उद्यान में खेलकूद करतेहोंगे।"

गोपाल—"प्यारी! जो तुम रमेशबाबू के बालक को न बचाती, तो मेरी कन्या का विवाह तक न होता। तुम तो किसी तरह अपना वा मेरा परिचय देती ही नहीं, तो फिर भला अज्ञातकुल शीला वैष्णवी की लड़की से कौन व्याह करता ?"

इतना कहकर गोपाल ने एक दीर्घनिश्वास लिया, वैष्णवी ने भी निश्वास त्याग करके कहा,—"यह सब विधाता की इच्छा है; अस्तु, चलोगे ?"

गोपाल—"नहीं प्यारी, आज तो न जाऊंगा क्यों कि न जाने क्यों, मेरे मन में आज अनेक भय उठ रहे हैं !"

वैष्णवी,—"तो फिर कब आओगे ?"

गोपाल,—"तुम जानती तो हो, कि इधर मैं अपना प्राण हथेली पर रख कर आता हूं।"

वैष्णवी,—"सो तो ठीक है, पर अब कब आओगे ?"

गोपाल,—"एक मास के अनन्तर, आजही के दिन मैं आऊंगा।"

वैष्णवी,—"तो तुम मेरी कुटीर में क्यों नहीं आते ! मैं लावण्यमयी को वहीं ले आऊंगी"

गोपाल —"अवसर हुआ तो आऊँगा, नहीं तो तुम्हीं यहां आना।"

वैष्णवी,—"यह लो, मैं पचास रुपये लाई हूं।"

यह सुन गोपाल ने व्यग्रता से रुपये लेकर कहा,—"प्रिये, तुम मेरी सच्ची गृहलक्ष्मी हो! हा! मेरा मरण क्यों नहीं होता? मरने से मुझे यह असह्य यंत्रणा न भोगनी पड़ती।"

वैष्णवी,—"नाथ! यह तुम क्या कहते हो? मैं तो तुम्हारी दासी, बल्कि चिरदासी हूं: सो भला, दासी क्यों नहीं सेवा करेगी?"

इन बातों से उस पुरुष के हृदय में एक दारुण आघात सा लगा, वह फिर कुछ भी न बोला और वहां से शीघ्रतापूर्वक चलता हुआ। जब तक वह दिखाई देता रहा, तब तक वैष्णवी निर्निमेष-लोचनों से उसे देखती रही: अनन्तर एक दीर्घनिश्वास त्याग कर वह वहां से चली गई।

बंगाल में गोपालपुर एक बड़ा ग्राम था, उसी के अन्तर्गत हरिपुर एक छोटा सा ग्राम था, जिसमें रमेशबाबू रहते थे। गोपालपुर के प्रधान जिमींदार राजा शशिशेखर थे। बहुत दिन हुए, इनके ग्राम में चोरों और डांकुओं का ऐसा उपद्रव मचा हुआ था कि उनके गिरफ़्तार करने या करा देने के लिये सरकार से इनाम मिलने का इश्तहार जारी हुआ था। एक दिन की बात है कि रात के समय राजा शशिशेखर के घर बहुत से डांकू घुस पड़े। उस समय आत्मरक्षा के लिये उन्होंने बंदूक चला कर सब डांकुओं को मार भगाया था, उनमें से कई एक मारे भी गए। पीछे इनाम मिलना तो दूर रहा, उलटा उन राजासाहब पर खून का मुकद्दमा खड़ा किया गया। यह हाल देख वे रूपोश होगए और उन्हें खोजने के लिये उनकी रानी भी राजमन्दिर छोड़कर कहीं चली गई। जब राजा-रानी—दोनों अन्तर्धान होगए तो राज्य की देखभाल सरकार करने लगी। लोग कहते हैं कि कुछ बदमाशों के बहकाने से राजासाहब के ऊपर खून का मुकद्दमा चलाया गया था।

सप्तम परिच्छेद.

प्रणयीयुगल ।

"अकृत्रिमप्रेमरसा विलासालसगामिनी ।
असारे दग्धसंसारे सारं सारङ्गलोचना ॥"

(भारविः)

पूर्ववर्णित बगीचे मे लावण्यमयी और सुधाकर उस दिन से बराबर एकत्र होकर परस्पर अनेक कुतूहल किया करते थे । द्वादशवर्षीया सरला बालिका लावण्यमयी अभी नितान्त अज्ञातयौवना न होने पर भी एक प्रकार अज्ञातयौवना ही थी, और सरलहृदय सुधाकर षोडशवर्षीय युवा होने पर भी पाशवबृत्ति की प्रवृत्ति से अज्ञान था। उन दोनों का स्वच्छ हृदय स्वर्गीय भावों का आकर था । उसमें सरलता के सग माधुर्य्य, सुन्दरता के संग सौजन्य, प्रेम के संग अनुराग, क्रीड़ा के संग व्रीड़ा और खेल के संग मेल भरा था। दोनों की अकपट और विशुद्ध प्रीति स्वर्गीय भावों से भरी, और भोले भावों से हरी थी । दोनों एक दूसरे के जातिकुल से अज्ञात थे, परन्तु प्राकृतिक प्रणय की ऐसी विचित्र और आश्चर्य्यजनक गति है कि वह सदा प्रेमियों को सीधे ही मार्ग पर ले जाती है। यद्यपि बहुधा प्रणय में कुछ व्याघात भी हुआ करते हैं, पर हम तो यही कहेंगे कि उसमें अवश्य प्रकृतिगत भावो की कुछ त्रुटि रहती होगी, क्योंकि प्राकृतिक भावों में झंझट का झंझावात नहीं बहता।

आज हम उन दोनों भोले प्रेमियों के क्रीड़ा-कुतूहल और कथोपकथन का एक स्वर्गीय चित्र पाठकों के आगे रखते हैं, इसे भुक्तभोगी पाठक और पहुंची हुई पाठिकागण अवश्य समझ लेंगी।

लावण्यमयी एक बकुलवृक्ष की ठण्ढी छाया में एक स्वच्छ पत्थर की शिला पर बैठी फूल की माला, सुमरनी, गहने और गेंद बना रही थी । वह अपने भाव के अनुसार माला भी वैसेही रंगबिरंगे फूलों की गांथती और मृदु मं, स्वर से आप ही आप कुन्न गुनगान गा रही थी

सुधाकर कई रङ्ग के फूलों से झोली भर कर उसके पीछे आ कर खड़ा हुआ, किन्तु बाला ने अपने काम के आगे उसका आना न जाना।

थोड़ी देर के उपरांत सुधाकर ने अपने हाथों से लावण्यमयी की आँखें बन्द करके कहा,—"बूझो तो कौन है?"

लावण्यमयी चमक उठी और थोड़ी देर इधर उधर करके हँस कर बोली,—"क्यों! मैं क्या तुम्हारी बोली नहीं पहिचानती? छोड़ो छोड़ो; मेरी आँख में दर्द होगा।"

सुधाकर ने सामने आकर कहा,—"लो, तुम्हारे लिये ढेरसा फूल लाया हूं।"

यह कह कर लावण्यमयी के आगे उसने चित्रविचित्र फूलों की ढेरी लगा दी।

फूलों को देखकर लावण्यमयी हृदय से प्रसन्न हुई, और सुधाकर का हाथ थाम कर बोली,—" बैठो न! खड़े क्यों हो? आओ, मेरे पास बैठो।"

सुधाकर,—" यहां इतनी जगह कहां है?"

लावण्यमयी,—" ओह! बहुत है।"

यह कहकर उसने सुधाकर का हाथ थाम कर अपने पास बैठा लिया।

लावण्यमयी,—" तुम्हारे लिये कई मालाएं बनाई हैं। देखो तो कैसी हैं?"

सुधाकर,—"उत्तम! अच्छा लाओ, मैं तुम्हारे लिये गहने बनाऊं।"

लावण्यमयी,—" नहीं, नहीं!"

सुधाकर,—" वाह! नहीं कैसी?"

यह कहकर फिर दोनों पुष्परचना में निमग्न हुए।

सुधाकर ने हँसकर कहा,—" क्यों लावण्यमयी! तुम मुझसे ब्याह करोगी?"

लावण्यमयी,—" हां जी! ब्याह का हाल तो मैं नहीं जानती, पर इसके नाम से न जाने क्यों, जी प्रसन्न होता है। हां! तुम्हारे संग मैं ब्याह जरूर करूँगी।"

सुधाकर " प्यारी तुम्हारे पिता जो दूसरे के संग तुम्हारा ब्याह करें तब?'

लावण्यमयी,—" नहीं जी ! बाबा मुझे बहुत चाहते हैं; जो चीज मैं मांगती हूं, वह देते हैं, जो कहती हूं, वह करते हैं, तो क्या मैं कहूंगी तो वे तुम्हारे संग मेरा ब्याह न कर देंगे ? "

सुधाकर,—" तुम ऐसी लज्जा की बात बाबा से कहोगी ?"

लावण्यमयी,—" क्या ! इसमें लज्जा की होती है ? मैं तो नहीं जानती। अच्छा यह तो कहो कि तुम मेरे घर क्यों नहीं चलते ?"

सुधाकर,—" अजी ! जब ब्याह हो लेगा, तब चलूंगा।"

लावण्यमयी,—" तो भई, मैं बाबा से कहूंगी कि जल्दी मेरा ब्याह तुम्हारे संग कर दें, जिसमें मैं तुम्हें अपने घर ले जाऊं।"

सुधाकर,—" अच्छा लावण्यमयी ! जो कदाचित् बाबा दूसरे ही के संग तुम्हारा ब्याह करदें, तो तुम क्या करोगी ? "

इस पर लावण्यमयी ने गर्व से कहा,—"नहीं, नहीं, बाबा ऐसा कभी नहीं करेंगे। "

सुधाकर,—" परन्तु जो कदाचित करें ! "

लावण्यमयी,—" तो मैं अपना प्राण दे दूंगी। "

सुधाकर,—" अच्छा प्राण न दे कर जो तुम मेरे संग सुन्दरवन भाग चलोगी तो अच्छा न होगा ?"

यह सुनकर लावण्यमयी थोड़ी देर चुप रही, फिर उदासी से बोली,—" बाबा को कैसे छोड़ूंगी ? "

सुधाकर,—" तब क्या करोगी ? "

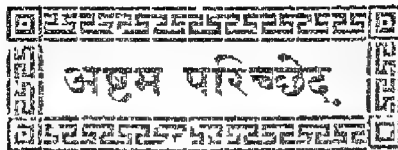
लावण्यमयी,—" बाबा मेरे मन के विरुद्ध न करेंगे।"

फिर दोनों ने जी भरकर दोनों का परस्पर खूब फूल से शृङ्गार किया। उस समय की लावण्यमयी की शोभा का वर्णन हमारी निर्जीव लेखनी नहीं कर सकती। अनन्तर दोनों गले गले मिल और मुखचुम्बन करके विदा होने लगे, क्योंकि सन्ध्या होगई थी।

लावण्यमयी,—" फिर कल जल्दी आना। "

सुधाकर,—" हां ! प्यारी ! जरूर आऊंगा।"

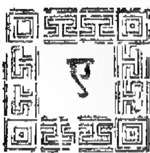
इसके बाद वे दोनो अपने अपने स्थान की ओर सिधारे।



पत्नीसंयोग।

" द्वीपादन्यस्मादपि,
　मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति,
　विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥"

(रत्नावली)



क दिन, रात को बाबूसाहब सोते थे। उन्होंने स्वप्न में देखा कि, 'उनकी स्त्री आई है! वह मानो उनका पांव पकड़ कर रोती है, और अनेक अनुनय-विनय करके पति से क्षमा मांगती है!' बहुत दिनों के बाद निज हृदयरत्न पाने से बाबूसाहब का हृदय पूर्ण होगया; मानो उनकी भी छाती फटने लगी और रुलाई आने लगी! उसी रोने धोने में उनकी नींद खुल गई। तब उनको चेत हुआ कि, 'यह स्वप्न था!' पर ठीक उसी समय उन्हें यह मालूम हुआ कि, 'दो एक आँसू की बूंदें उनके पैरों पर गिरी!' उन्होंने समझा कि, 'कोई पैताने बैठा रोता है!' उन्हें एक संग भय, विस्मय और आश्चर्य हुआ! उन्होंने जोर से कहा,—" कौन है?" किन्तु इसका कोई उत्तर न मिला और वही उष्ण अश्रु की बूंदें टपकने लगीं! बाबूसाहब क्या अभी तक स्वप्न देखते थे! वे चिहुंक कर उठ बैठे और पूछने लगे,—" कौन है?"

पर इसका उत्तर नहीं मिला। फिर उन्होंने धीरे धीरे रोदन-ध्वनि सुनी। वे झपट कर खड़े होगए और दौड़कर किवाड़ खोलने चले; क्योंकि आजकल वे बहुत संदिग्ध और भयभीत रहते थे। भूत के अस्तित्व पर उनका यद्यपि विश्वास नहीं था, तथापि आजकल की घटना से वे एक प्रकार बहुत संदिग्ध होगए थे। वे द्वार खोलने जाते थे कि किसीने आकर उनका हाथ पकड़ा। वे आजकल बहुत भयभीत रहे थे पर अंधकार में ऐसा कोमल हस्त स्पर्श करके वे चिहुंक उठे

स भय से चिल्लाना चाहते थे कि उसी समय जिसने हाथ थामा था, उसने करुणाभरे बचनों से कहा,—"क्यों नाथ ! तुम मुझे नहीं चीन्हते ? भूल गए क्या ?"

बारह वर्ष से सरला का पता नहीं था, पर क्या स्वामी पत्नी का स्वर कभी भूल सकता है? इतने दिन बीते, पर आज बाबूसाहब को वही पूर्व्ववत् कोमल और मधुर स्वर सुनाई दिया।

उन्होंने बहुत आश्चर्यित होकर कहा,—"क्या तुम हो ?"

सरला,—"हां ! नाथ ! मैं ही हूं।"

रमेश,—"अहा ! प्रिये ! इतने दिनों तक तुम कहां थीं ? हा ! बिना कहे सुने कहां चली गई थी। क्या एक बेर भी मुझसे मिलने को तुम्हारा जी नहीं चाहता था ?"

सरला ने दोनों हाथों से बाबूसाहब का हाथ थामकर कहा,—"नाथ ! दासी का अपराध क्षमा करो। हा ! मेरी सब बातें सुनने पर, फिर तुम मेरे ऊपर क्रुद्ध वा अप्रसन्न न होगे।"

रमेश,—"प्रिये ! मैं तुम्हारे ऊपर कब अप्रसन्न हुआ था ? मुझे क्या तुम्हारे सतीत्व का हाल नहीं मालुम है ? जब तुम मुझे अथाह विरहसागर मे डुबाकर बिना कहे सुने अन्तर्धान हुई थीं, और एक महीने भर की लड़की मेरे माथे डाल गई थीं, तब भी मैंने तुम्हारे ऊपर क्रोध नहीं किया था; क्योंकि तुम्हारे चरित्रों के ऊपर मुझे सन्देह नहीं था। अस्तु, अब तुमने आकर फिर से घर को आलोकमय किया, भला यह मेरी अप्रसन्नता का कारण हो सकता है !"

सरला,—"प्राणनाथ, यदि दासी को ऐसा विश्वास न होता तो फिर यह कदापि घर न फिरती।"

रमेश,—"अच्छा, ठहरो, मैं दीपक बालूं।"

सरला,—"नाथ ! यह तुम्हारा काम नहीं है। दासी तो अब आही गई है; सो रहो, दीया बाल कर एक बेर तुम्हें आँख भर कर मैं देखूं।"

यह कह कर हमारी पूर्वपरिचिता संन्यासिनी ने, जो वास्तव में सरला ही थी बाबूसाहब से पता पूछ सलाई घिसकर दीया बाला। प्रकाश होने पर बाबूसाहब ने देखा कि, 'एक स्वर्गीय ... छटा विस्तार किए सन्यासिनी खड़ी है ... उस मूर्त्ति के

देखने से हृदय में भक्ति का उदय होता था। वह रूप देखकर बाबूसाहब स्तम्भित होगए! क्षण भर के अनन्तर वे स्त्री को आलिङ्गन करके उसके कोमल और कमनीय कपोलों का सहस्त्रों बार चुम्बन करने लगे। अनन्तर दोनो जने पलंग पर बैठे! इतने दिनों की छुटी हुई बातों—उन इकट्ठी बातों की क्या इयत्ता थी? वे क्या एक दिन में पूरी होतीं? 'किसे आगे कहे और किसे पीछे कहें.' इस बात का निर्णय उनदोनों के मन नहीं कर सके! कौन पहिले बोले? क्यों कि बातों का तो शेष नहीं है!

अन्त में सरला ने कहा,—"प्रियतम! मै इतने दिनों तक कहां थी, और क्यों बिना कहे सुने सुख का बिसर्जन करके चली गई थी, यदि अनुमति दो तो इसका हाल कहूं।"

रमेश,—"प्रिये! बहुत सी बातें हैं, इसलिये मैं किसे पहिले पूछूं और किसे पीछे? मेरी बुद्धि चंचल होरही है, और सिर चक्कर खा रहा है! अतएव तुम जो उचित समझो, सो कहो, मैं सुनूं।"

तब तो बाबूसाहब के सन्मुख बैठ कर सरला वा संन्यासिनी अपना हाल यों कहने लगी,—"मुझे जब बालक हो कर मर गया, तो तुमने बहुत कुछ यत्न किया, मैंने भी बहुत सी औषधियां खाईं, पर किसीसे कुछ न हुआ। अन्त में हम दोनों हताश हुए। सन्तति के लिये तुम्हें लोग फिर विवाह करने की सम्मति देने लगे, मैंने भी बहुत समझाया, पर तुम किसी तरह राजी नहीं हुए, इससे मेरे मन में बड़ा दुःख हुआ। एक दिन हठात् उद्यान में मुझसे एक वैष्णवी से भेंट हुई! बातों बातों में मैंने सब अपनी दुःख की कहानी उससे कही। उसने दृढ़ता से कहा कि, 'मेरे पास एक जड़ी है, उसे खाने से बालक होता और जीता है, पर यदि उसकी मां बालक को रक्खेगी तो वह नहीं बचैगा।' यह सुनकर उससे मैंने कहा, 'तब मैं क्या करूं?' इस पर उसने कहा, 'मैं इसी ग्राम में रहती हूं, सो जब तुम्हें दरद हो, तो मुझे बुला लेना; मैं तुम्हारे बालक को ला कर पालूंगी, और जब वह जवान होगा, तब उसे तुम्हारे हवाले करूंगी।' उसकी यह बात मैंने स्वीकार करके उससे औषधि लेकर खाई। उस दिनसे फिर बराबर वैष्णवी से भेंट होना रहा। धीरे धीरे गर्भ रहा और लड़का होने का समय आया

तुम्हें मालूम होगा कि मैंने पुरानी दाई के बदले उसी वैष्णवी को बुलवाया था। अनन्तर मुझे जब बालक हुआ, और फिर दाई ने क्या क्या किया, यह तो तुम्हें स्मरण होगा।"

रमेश,—"हां! यह सब याद है।"

सरला,—उसके बाद पाँच वा चार वर्ष बीत गए। मैंने फिर वैष्णवी को नहीं देखा था और बालक की आशा भी त्याग दी थी, इसीसे तुमसे वह सब हाल भी नहीं कहा था। पाँच चार वर्ष के बाद एक दिन हठात् वैष्णवी से भेंट हुई। मैंने उससे बालक का वृत्तान्त पूछा, इस पर उसने कहा कि, 'वह जीता है, पर एक काम करो तो तुम्हें बालक को दिखाऊं।' उसकी यह बात सुनकर मैंने कहा, 'क्या?' तब उसने यों कहा, 'विशेष कुछ नहीं, आज रात को तुम चुपचाप मेरे संग चलो। मैं तुम्हें एक महीने भर की लड़की दूंगी, उसे तुम चुपचाप अपने स्वामी के पास रख कर चली आना। वह मेरी कन्या है। मैं तुम्हारे बालक का पालन करती हूं, इसलिये अपनी लड़की को भी नहीं पोस सकती, क्योंकि मुझमे इतना सामर्थ्य नही है। मैं तुम्हारे पुत्र का पालन करती हूं, इसलिये मेरी कन्या का पोषण तुम्हें करना होगा। तुम्हारे पति उस कन्या का अवश्य लालन-पालन करेंगे।' सो वह कन्या उसी वैष्णवी की है।"

रमेश,—"इसके अनन्तर?"

सरला,—"इसके अनन्तर वह बोली कि, 'एक बात और भी है, वह यह कि, मैंने तुम्हारे बालक को बड़ी सेवा करके इतना बड़ा किया है। सो जब तुम अपना पुत्र पाओगी तो मुझे क्या दोगी?' यह सुनकर मैंने झट से प्रतिज्ञापूर्वक उससे यों कहा कि, 'जो तुम मांगोगी, वही दूंगी।' इस पर वह बोली, 'मैं ज्यादे कुछ नहीं चाहती, बस, तुम यही अंगीकार करो कि, 'अपने पुत्र के संग मेरी कन्या का विवाह कर दोगी और इसमें कुछ बखेड़ा न करोगी।' जब यह बात तुम स्वीकार करोगी, तभी अपना पुत्र पाओगी। प्राणनाथ! मैं उस समय अपने बालक के लिये पागल हो रही थी इसलिये वैष्णवी की बातों से मैं सम्मत हुई। फिर रात को बारह बजे वह इसी बालिका को गोद में लेकर यहां आई। मैं उसकी बाट देख रही थी। इसके अनन्तर उस कन्या को तुम्हारे पास

रखकर मैं अपने पुत्र को देखने के लिये घर से चली गई।"

रमेश,—"फिर?"

सरला,—"फिर मैं उसके संग एक कुटीर में पहुंची। वहां एक आदमी उस बालक को गोद में लेकर खिला रहा था। वैष्णवी ने उसकी गोद से लेकर वह बालक मुझे दिया, मैंने बड़े प्रेम से गोद में उठाकर उसके मुख का असंख्य चुम्बन किया। मुझसे किसीने कुछ भी न कहा, किंतु मेरे प्राण ने कहा कि, 'यही तेरा बालक है'।"

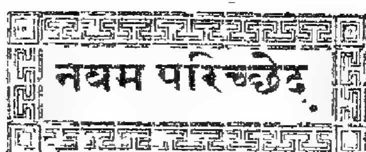
रमेश,—"अरे! वह बालक कहां है, प्रिये?"

सरला,—"धीरज धरो, सब कहती हूं। अनन्तर वह पुरुष वैष्णवी से बोला कि, 'यहां मैं देरी नहीं कर सकता, क्योंकि पुलिस ने मेरा सन्धान पाया है; इसलिये अभी चलो।' यह सुन वैष्णवी ने मेरी ओर फिर कर कहा, 'लो बहिन! तुम अब घर जाओ, तुम्हारे बालक को मैं पालूं और तुम मेरी कन्या की रक्षा करो। जब समय होगा, तब मैं बालक को स्वयं लेकर आऊंगी; पर देखो, ब्याह के बारे की प्रतिज्ञा न भूलना।' नाथ! वह बालक मेरी गोदी छोड़ कर किसी तरह उसके पास नही गया, मचल गया, पर वैष्णवी बालक को नहीं छोड़ना चाहती थी और वह बालक मुझे किसी तरह भी नहीं छोड़ना चाहता था। यह दशा देखकर मेरी सारी बुद्धि लोप होगई और मैं मंत्रमुग्ध मणिधर की भांति उन लोगों के पीछे पीछे चली गई। वैष्णवी ने बहुत वारण किया, पर मैं न मानी और ग्यारह-बारह वर्ष तक उनके संग अनेक तीर्थों में घूमती रही। एक मास से यहाँ आई हुई हूं, तभीसे तुम्हारे चरणों का दर्शन करना चाहती थी, पर डर से साहस नहीं होता था। एक दिन रात को मैं तुम्हारे पास आई थी, किंतु तुम्हारे जागने पर भय से भाग गई।"

बाबूसाहब ने घबड़ाकर पूछा,—"एं! वह हमारा हृदयरत्न कहां है?"

सुधाकर माता के संग आया था, पर माता की अनुमति से बाहर खड़ा था। उसे सरला ने पुकारा,—"बेटा! सुधाकर!"

बस, तत्क्षण वह द्वार के पास आया और सरला ने घर में आने के लिये उससे कहा। उसके घर में आते आते ही बाबूसाहब ने धीरज छोड़ झपट कर उसे हृदय से लगा लिया



नवम परिच्छेद।

विवाह।

"रूपसम्पन्नमग्राम्य, प्रेमप्राय प्रियम्वदम्।
कुलीनमनुकूल च, कलत्र कुत्र लभ्यते॥"

(श्रीचन्द्रदेवः)

इतने में सवेरा होगया। घर के सब लोगोंने यह समाचार देख और सुनकर बड़ा हर्ष प्रकाश किया। अहा! प्रिय पाठिकागण! लावण्यमयी के हृदय में आज कितना आनन्द हुआ होगा, यह आप अनुभव कर सकती हैं?

फिर सरला ने लावण्यमयी और सुधाकर की उद्यानक्रीड़ा का हाल कहा, जिससे बाबूसाहब का रोम रोम हर्षित होगया। आज से लज्जा ने ऐसा प्रभाव फैलाया कि लावण्यमयी लुक लुक कर सुधाकर से बोलने लगी, इसी प्रकार सुधाकर भी छिप छिप कर उससे मिलने लगा।

बाबूसाहब पुराने आस्तिक थे, तथापि स्वेच्छाचारी अंधेसमाज का वे भय नहीं करते थे। उन्होंने साहस पर निर्भर होकर अज्ञातकुलशीला वैष्णवी की सुन्दरी और सुशीला कन्या लावण्यमयी से अपने पुत्र का विवाह स्थिर किया था। अधिक दिन तक इस काम को न रोक कर शीघ्र दिन नियत किया गया और व्याह की तयारी होने लगी। खूब धूमधाम, गाने-बजाने, नाचतमाशे और आमोद प्रमोद होने लगे, नगर में एकाएक आनन्द छा गया। बाबूसाहब ने पुत्र के व्याह में अपनी दो महीने की आमदनी (दस हजार रुपये) को खर्च करना निश्चय किया, और एक महीने की आय में से देशहितैषी कार्यों (गोरक्षा, सभा, सोसाइटी, पुस्तकालय, अस्पताल, अनाथालय, पाठशाला, समाचारपत्र आदि) में व्यय करना स्थिर किया। बाबूसाहब ने अपने उद्यान में जो उत्तम और विस्तृत घर था, उसीमें लावण्यमयी और उनकी माता को स्थान दिया कन्या के ओर की भी सब तयारी बाबूसाहब ही करते थे पर वैष्णवी ने किसी तरह न माना, इसने कहा

कि, 'जो तुलसीपत्र मुझसे बनेगा, उसीसे मैं कन्या का पीला हाथ कर दूंगी।' सब ठीक हुआ, पर कन्यादान कौन करेगा, यह बात कोई सहसा वैष्णवी से पूछ नहीं सका।

नगर में घर घर लोग कानाफूसी करने लगे कि, "यह किसी नीच जाति की कन्या है, इसका रूप देख कर बाबूसाहब जातिकुल और मान-मर्यादा नष्ट करने पर उतारू हुए हैं,' इत्यादि; पर इन निःसार बातों पर बाबूसाहब भ्रूक्षेप भी नहीं करते थे।

विवाह का दिन आया, बड़े धूमधाम से बारात निकली, आतशबाज़ी छुटी, वर कन्या के घर व्याहने आया, और घर बाहर लों आनन्द छागया। मण्डप के नीचे कन्यादान की बेदी थी। वहां जाकर बाबूसाहब ने देखा कि, 'एक पुरुष कन्यादान करने के लिये बैठा है और वैष्णवी के संग उसका गँठबंधन हुआ है!' बाबूसाहब उस व्यक्ति को देखतेही स्तम्भित, आश्चर्यित और पुलकित होगए! उन्होंने मुख से एक बात भी नहीं निकाली, परन्तु उनका शरीर न जाने क्यों थर्राने लगा! वहांसे वे तुरन्त घर आ कर स्त्री के संग कुछ परामर्श करने लगे; बोले! "प्रिये! तुम कुछ जानती हो, लावण्यमयी किसकी बेटी है?"

सरला,—"वैष्णवी की।"

रमेश,—"वैष्णवी ने और कुछ तुमसे कहा है?"

सरला,—"कुछ नहीं,—किन्तु वह कहती है कि, 'विवाह हो जाने के उपरान्त कुछ हाल और कहूंगी'।"

रमेश,—"जो कन्यादान करेंगे, उन्हे तुमने देखा है?"

सरला,—"खूब देखा है, वे बराबर वैष्णवी के संग रहा करते थे। वे ही वैष्णवी के पति और लावण्यमयी के पिता हैं।"

रमेश,—"प्रिये! यह बड़े भाग्य की बात है! क्योंकि वे इस नगर के राजा और जिमीदार शशिशेखर बाबू हैं।"

सरला 'ऐं तुम कहते क्या हो? क्या वे सचमुच राजा

सरला,—' अच्छा मैं अभी पूछती हूं । "

इसके अनन्तर सरला ने वैष्णवी से पूछा. तब उसने अपना सारा हाल कह दिया कि, ' चोरों और डाकुओं के दंगा फसाद् में उनके घर में कई आदमियों के खून होने से उनके ऊपर दोष पड़ा, इसीसे वे आजतक भेष बदलकर देशविदेश घूमा करते हैं और हमलोगों की यह अवस्था है ! देखो जिसमें यह बात प्रकाश न होने पावे । '

सरला.—" तो तुम्हीं रानी चन्द्रावली हो ? "

इस पर वैष्णवी ने " हां ! " कहकर सरला को गले लगा लिया । यह बात अप्रकाशित रही, और शुभविवाह सांगोपांग सम्पन्न होगया । धीरे धीरे सब धूमधाम की जगह सन्नाटा छा गया, और नगर ने शान्तिलाभ किया । राजा और रानी का उसी रात्रि से फिर पता न लगा । बाबूसाहब और सरलादेवी नववधू के लाड़-प्यार में मग्न हुए, सुधाकर और लावण्यमयी के निःसीम आनन्द् की थाह न रही और दम्पति नव-प्रणय-सागर में डूब गए ।

प्रणय स्वर्गीय पदार्थ है । संसार में मनुष्य धन-जन-आदि सभी पदार्थ पाते हैं, नाना प्रकार के भोगविलास को भोगते हैं और इस धराधाम को स्वर्ग से भी बढ़कर समझने लगते हैं; परन्तु सब कुछ पाने पर भी प्रेम—सच्चे प्रेम के सुख को कोई विरले ही पाते होंगे । संसार में चाहे सभी प्रकार के सुख मिलें, किन्तु यदि विशुद्ध और स्वर्गीय प्रेम न मिले तो फिर सभी सांसारिक सुख तुच्छ जँचने लगते और बोझ से जान पड़ने लगते हैं; इसीसे अनुभवी महात्माओं ने कहा है कि, 'प्रेम साक्षात् भगवान् का रूप है और बड़े भारी पुण्य के बल से इसकी प्राप्ति होती है ।' इसीसे कहा है कि, 'प्रेम स्वर्गीय पदार्थ है ।' अतएव जिसके भाग्य में सच्चे प्रेम का सुख बदा हो, वह मनुष्य नहीं, देवता है; और उसके लिये यह संसार ही वास्तव में स्वर्ग है । आज हमारे नवदम्पति—लावण्यमयी और सुधाकर इसी स्वर्गीय प्रेम को पाकर कृतकृत्य होरहे हैं ! जगदीश्वर ऐसे ही सच्चे प्रेम से सबको सुखी करे, यही प्रार्थना है ।

दशम परिच्छेद.

भार्या ।

"सञ्चारो रतिमन्दिरावधि सखीकर्णावधि व्याहृतं,
चेतः कान्तसमीहितावधि महामानोऽपि मौनावधि ।
हास्यं चाधरपल्लवावधि पदन्यासावधि प्रेक्षितं,
सर्वं सावधि नावधिः कुलभुवां प्रेम्णः परं केवलम् ॥"

(कुसुमदेवः)

हमारा प्यारा सुधाकर पलंग पर लेटा हुआ है और सुशीला लावण्यमयी बड़े प्यार से उसका पावं दाब रही है । दोनों में मीठी-मीठी बातें भी होती जाती हैं और रह रह कर एक दूसरे को अपने गले से लगाकर परस्पर कपोल-चुम्बन भी करलेते हैं ।

इतने में सुधाकर ने हंसकर कहा,—"प्यारी, तुमने मेरे साथ ब्याह करके अपनी प्रतिज्ञा भली निबाही ।"

लावण्यमयी ने हंसकर कहा,—"भला, मेरा ऐसा पापी सा भाग्य कहां था कि,—प्यारे ! तुम मेरे पति होते ! यह तो नारायण की बड़ी दया हुई, जो तुमसा पति मुझे मिला ।"

सुधाकर,—"नहीं, नहीं, बरन मैं तो यों कहूंगा कि जगदीश्वर ने बड़ी दया की, जो मुझे राजकन्या मिली, नहीं तो भला मेरे ऐसे भाग्य कहां थे !"

लावण्यमयी,—"खैर, इन बातों को जाने दो और अब मुझे अपने चरणों से कभी अलग न करो; क्यों कि तुम्हें मैंने बड़ी कड़ी तपस्या के फल से पाया है ।"

सुधाकर,—"यही बात मैं भी कहता हूं कि तुम मुझे मेरे अनेक जन्मों के पुण्य के बल से मिली हो; अतएव भला ऐसे अलभ्य रत्न को पाकर मैं कभी इसकी उपेक्षा कर सकता हूं ।"

निदान, नवदम्पति में देरतक इसी प्रकार की प्रेम की बातें होती रहीं । बस, पाठक ! अब चलिए, क्यों कि अब यहां पर हमारा या आपका रहना अनुचित है । आशा है कि जगदीश्वर इस जुगलजोड़ी को सदा सुखी करेगा

एकादश परिच्छेद

परिशिष्ट ।

"नित्यं भवन्ति संसारे, बहुशः प्रकृतिजाः क्रियाः ।
जनानां भिन्नभावानां, नानामार्गानुयायिनाम् ॥"

(व्यासः)

लावण्यमयी के विवाह होने के कुछ दिनों के उपरान्त गवर्नमेण्ट ने राजासाहब को निर्दोष जानकर उनके ऊपर से मुकद्दमा हटा लिया ।

इसके अनन्तर एक दिन श्रीमती रानी चन्द्रावली राजप्रासाद में पधारीं । उन्होंने एक शिवमन्दिर काशी में और एक श्रीराधाकृष्ण का मन्दिर श्रीवृन्दावन में बनवाकर उनके लिये भूमि निकाल दी, और जिन कर्म्मचारियों ने पीछे ईमानदारी से काम किया था और समय पर उपयुक्त सेवा की थी, उन्हें खूब पारितोषिक-स्वरूप भूमि दी ।

शेष सब लाखों रुपयों की सम्पत्ति लावण्यमयी के नाम लिख और सब काम शेष करके फिर वे अपने पति के पास काशी चली गईं ।

वहीं वे पति के सङ्ग सदा रहने लगीं । बीच-बीच में सुधाकर लावण्यमयी को लेकर आता जाता था, पर वे दोनों फिर घर न फिरे । बहुत दिनों के उपरान्त जब लावण्यमयी और सुधाकर के माता-पिता स्वर्गवासी हुए और उन्हें कई बालक भी होगए तब लावण्यमयी ने जिद्द करके अपनी सब सम्पत्ति सुधाकर के नाम लिख दी ।

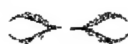
सुधाकरजी के योग्य व्यवहार से प्रसन्न होकर गवर्नमेन्ट ने महाराज आदि कई एक उपाधियाँ उन्हें दीं ।

जो लोग लावण्यमयी को नीच की कन्या जानते थे, उन्हें पीछे अत्यन्त ही लज्जित होना पड़ा ।

ईश्वरानुग्रह से लावण्यमयी का घर सुख का आकर होगया ।

इतिश्री ।

इन्दिरा।



यह उपन्यास बङ्गभाषा के सुप्रसिद्ध लेखक स्वर्गीय श्रीयुत बङ्किमचन्द्र चटर्जी का लिखा है। इसका हिन्दी अनुवाद श्रीमान् पण्डितकिशोरीलाल-गोस्वामीजी ने किया है। यह उपन्यास बड़ा ही दिलचस्प और अनूठा है। इन्दिरा का ससुरार जाते समय रास्ते में डाकुओं के द्वारा लूटी जाना, फिर जङ्गलों में भटकना, और धीरे धीरे एक वकील के यहां रसोई करने पर रहना, और वकील की स्त्री के साथ सखी-भाव का स्थापित होना, और बूढ़ी मिसरानीजी की दिल्लगी, पके बालों में खिजाब का परिहास आदि देखने ही योग्य है। अन्त में इन्दिरा के पति का वकील के यहां आकर ठहरना, और फिर इन्दिरा का अपने पति के पास 'परनारी' के रूप में जाना, और इन्दिरा को उसके पति का 'पर-स्त्री' समझकर ग्रहण करना, और उसे लेभागना। फिर अन्त में भेद का खुलना और इन्दिरा का सुखी होना, आदि बड़ी ही विचित्र घटनाएं इस उपन्यास में हैं। पुस्तक पढ़ने ही योग्य है। बड़े आकार की बड़ी पुस्तक का मूल्य केवल सवा रुपया और डाक व्यय तीन आने